कला फिल्मों में ओम पुरी का योगदान

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के अंतर्गत

एम०फ़िल० नाट्य कला एवं फिल्म अध्ययन उपाधि हेतु प्रस्तुत

लघु शोध-प्रबंध

सत्र: 2013-14

ज्ञान शांति मैत्री

शोध- निर्देशक

प्रो० सुरेश शर्मा

अधिष्ठाता, सृजन विद्यापीठ

नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग

शोधार्थी

दुर्गराज आलोक दर्शी

पंजीयन सं2013/07/204/008

नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997 क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित)

पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र) भारत

दूरभाष: 07152-251170 बेबसाइट: www.hindivishwa.org

भूमिका :-

हिन्दी सिनेमा में जब भी समर्थ अभिनेताओ की बात आती है तो उसमे नसीरुद्दीन शाह ,पंकज कपूर,स्मिता पाटिल शबाना आज़मी ,ओम पुरी जैसे दिग्गज अग्रिम कड़ी मे गिने जाते है | अपने साथ के अन्य अभिनेताओ की भांति ओम पुरी भी अपने मौलिक एवं समस्त अभिनय के लिए जाने जाते है इनकी सबसे बड़ी खासियत यह है कि यह मोनोटोनस नहीं होते और इन्होने अपने सिने कैरियर मे जीतने विविध तरह कि प्रयोगात्मक भूमिकाएं की है वो न तो दूसरे अभिनेताओ के द्वारा संभव था, और ना ही उतना चुनौतीपूर्ण अभिनय किसी के द्वारा संभव था। एक तरह से सामान्य भाषा में बदसूरत कहे जाने वाले चेचक के दागो वाला चेहरा लिए सामान्य कद काठी का यह अभिनेता अभिनय कि इतनी बड़ी मिसाल कायम करेगा यह लोगो नें सोचा नहीं था |

ओम पुरी ने खुद को साबित करके लोगो के उस मान्यता को झूठा साबित किया जिसमे कि अभिनेता को सुन्दर सुडौल और आकर्षक होना अनिवार्य होता था |

70 के दशक में श्याम बेनेगल ,गोविंद निहलानी,गौतम घोष ,प्रकाश झा ,ऋषिकेश मुखर्जी ,मृणाल सेन,शत्यजित रे जैसे यथार्थ वादी सिनेमा कि गहरी समझ एवं समाज कि सूक्ष्म पड़ताल करने वाले दिग्गज निर्देशको के आगमन से हिन्दी सिनेमा काफी उत्कृष्ठता कि तरफ बढ़ा ठीक इसी समय ओम पुरी अभिनय क्षेत्र में उतरते है शुरुआत में उन्हे छोटे –छोटे रोल से संतोष करना पड़ा परंतु कला के पारखी निर्देशको कि नजर सीधे ही उन पर पड़ी और उन्हे निर्देशको ने अपनी फिल्मों मे नायक का रोल देने का रिष्क लिया |

ये ओम पुरी कि मेहनत और लगन ही थी कि वे निर्देशको के कसौटी पर खरे उतरे और अपने को कही ज्यादा साबित किया |

सन् 1980 में ओम पुरी की फिल्म "आक्रोश" आई जिसमें गोविंद निहलानी और ओम पुरी की इस जोड़ी ने आगे भी कई सार्थक फिल्मे दी | इस जोड़ी कि अगली फिल्म "अर्धसत्य" थी जिसमे ओम पुरी ने जुझारू और आंदोलन कारी युवा पुलिस ऑफिसर कि भूमिका की जिसमें बेहद जचें |एक बार फिर उन पर लोगो की नजर पड़ी फिल्म "आक्रोश" के अभिनय को देख कर भारत के दिग्गज सिने निर्देशक सत्यजित रे ने जब टेलीविजन के लिए प्रेम चंद कि कहानी "सद्गति " पे फिल्म बनाई तो उसमे दुखी के रोल के लिए उन्होने ओम पुरी को ही चयनित किया | जो ओम पुरी के लिए बेहद सौभाग्य की बात थी |

ओम पुरी ने दुखी के कैरेक्टर को इतना मार्मिक और प्रभावकारी ढंग से निभाया की लगता है ओम पुरी को ही देख के प्रेमचंद ने अपनी कहानी "सद्गति" मे दुखी का चरित्र लिखा था |

सन् 1982 मे आई श्याम बेनेगल की फिल्म "आरोहण" में भी ओम पुरी ने अभिनय की समस्त छाप छोड़ी | इसमें गरीब किसान का जो चरित्र ओम पुरी ने निभाया है वह काबीले तारीफ है | इस तरह से ओम पुरी ने कलात्मक सिनेमा को उचाई पर पहुचाया | इतना उचाई पे की कला फिल्मों से ओम पुरी नहीं बल्कि ओम पुरी से कला फिल्म जानी जाती है |

बचपन से हिन्दी फिल्मों के प्रति मेरा रुझान रहा है विशेषकर कला फिल्मों का | इन फिल्मों मे मुझे ओम पुरी का अभिनय हमेशा से आकर्षित करता रहा है यह चाहे मेरे गाँव से होने के कारण रहा हो या अन्य कारण मै नहीं जनता | क्योकि ओम पुरी ने जो भी चरित्र इन फिल्मों मे निभाए है वो हमे हमारे गाँव के आस –पास दिखते या नजर आते थे |शोध का शुभ अवसर प्राप्त होने पर मैंने ओम पुरी की फिल्मों को शोध का विषय बनाया |

प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध मे कला फिल्मों मे ओम पुरी के योगदान को प्रस्तुत किया गया है और यह देखने का प्रयास किया गया है कि कहा तक किस स्तर तक ओम पुरी कला फिल्मों मे योगदान किया है |

यह लघुशोध प्रबंध तीन अध्याय मे वीभक्त है **प्रथम अध्याय मे "कला फिल्मों का संक्षिप्त इतिहास"**प्रस्तुत किया गया है |**द्वितीय अध्याय के अंतर्गत हमने "अंबाला से मुंबई : ओम पुरी का सफर"** , इस अध्याय मे अंबाला से मुंबई तक के सम्पूर्ण संघर्षमय जीवन का एवं जीवन के विभिन्न छबियों को , दृष्टिकोण को , विचारधारा को , गतिशीलता को, सम्पूर्णता मे दिखाने का भरसक प्रयास किया गया है | तृतीय अध्याय में **"ओम पुरी अभिनीत कला फिल्मे"** जिनमें उनके अभिनय से सजी "आक्रोश" , "अर्ध सत्य", "सद्गति", "आरोहण" फिल्मों का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर के क्रमिक ढंग से एक-एक फिल्मों को सम्पूर्णता मे रखा गया है और उनका मूल्यांकन किया गया है|

यह लघु शोध प्रबंध विश्लेषणात्मक ढंग से किया गया है | जहा पर एक तरफ कला फिल्मों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है वही पर ओम पुरी के फिल्मी ब्यक्तित्व को शूक्ष्मता से उकेर कर रखा गया है इससे इस विषय कि निर्मित एक ब्यापक फ़लक पर होती है अत: समाज वैज्ञानिक और आलोचनात्मक शोधप्रविधि के आलोक में कला फिल्मों और ओम पुरी का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है |

इस लघु शोध प्रबंध को आकार देने में इस स्वरूप मे प्रस्तुत करने मे मेरे निर्देशक प्रो॰ सुरेश शर्मा का उचित मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ जिससे मुझे समुचित दिशा मिल सकी | नाट्य कला एवं फिल्म अध्ययन विभाग के अन्य शिक्षक डा॰ विधु खरे दास का आभारी हू | जिन्होने समय – समय पर समुचित सुझाव दिया इस लघु शोध प्रबंध मे सहयोग करने वाले अपने मित्रो अमरेन्द्र ,राजेंद्र ,अभिषेक ,अशोक, मनीष जैसल , विजय ,गौरव के प्रति विशेष आभार जिनके सहयोग के बिना शायद यह लधु शोध प्रबंध इस रूप में नहीं आ पाता |

कला फिल्मों का संक्षिप्त इतिहास :-

दुनियाँ मे सिनेमा फ्रांस की देन माना जाता है और भारत में सिनेमा के सबसे पहले क़दम 7 जुलाई 1896 को पड़े। फ्रांस से ही आये लुमिएर बंधुओं ने मुंबई के वॉट्सन होटल में6 लघु फ़िल्मे 'एंट्रि आफ सिनेमैटोग्राफ' , 'सी बाथ, 'डिमालिश ऑफ अ वाल', 'बेबीज ब्रेकफास्ट', 'वर्कर्स लिविंग

द फेक्टरी',और 'लेडीज एंड सोल्जर्स ऑन व्हील्स' आदि का प्रदर्शन कर भारत के लोगों का फ़िल्मों से परिचय कराया और 3 मई 1913 को "राजा हरिश्चंद्र" नामक भारत की पहली फिल्म भारतीय दर्शकों के सामने थी। इस फ़िल्म के निर्माता थे मराठी भाषी धुंडीराज गोविंद फाल्के। जिन्हें हम दादा साहेब फाल्के के नाम से जानते हैं और भारतीय सिनेमा का पितामह मानते हैं।[1]

मुंबई के वॉट्सन होटल में कुछ चुनिन्दा लोगों के सामने लुमिएर बंधुओं की फिल्मों का प्रदर्शन किया गया. लुमिएर बंधुओं के इस चमत्कार को तत्काल कामयाबी मिली और टिकट दर एक रुपया होने के बावजूद बड़ी तादाद में दर्शक बायस्कोप देखने के लिए जुटे. इस कामयाबी के बाद इन फिल्मों का प्रदर्शन नावल्टी थियेटर में होने लगा. इस प्रकार भारतीय सिनेमा का सफर भी विश्व सिनेमा के लगभग साथ-साथ ही शुरू हो गया. लुमिएर बंधुओं ने अपना पहला प्रदर्शन पेरिस में दिसंबर, 1895 में किया था और छः महीने की अवधि में ही भारतीय दर्शकों को भी फिल्म देखने का मौका मिल गया. शेष विश्व की भांति भारतीय दर्शकों ने भी सिनेमा का दिल खोलकर स्वागत किया. वॉट्सन होटल में आयोजित प्रथम प्रदर्शन देखने के बाद टाइम्स ऑफ इंडिया ने लिखा "एक शक्तिशाली लालटेन के माध्यम से वास्तविक जीवन से मिलते-जुलते बहुत से दृश्य परदे पर दिखाए गए. जिस प्रकार प्रत्येक पात्र की भाव-भंगिमाएं अत्यंत स्पष्टता से प्रस्तुत की जा सकीं उससे पता चलता है की छायांकन की कला और जादुई लालटेन का गठजोड़ किस उन्नत स्थिति तक पहुँच चुका है. एक मिनट में लगभग 700 से 800 तक छायाचित्र पर्दे पर प्रकाशमान हो उठते हैं. इन दृश्यों को दर्शकों ने बेहद पसंद किया. कहने का आशय यह है की विज्ञान के इस नए आविष्कार को देखकर दर्शक अभिभूत हो गए".[2]

---

[1] -www.hi.wikipedia.org

2-सिनेमा ,कला-सिनेमा भेद-परक मूल्यांकन पृ॰ सं॰51

[2] http://hi.bharatdiscovery.org

कुछ लोग भारत में फीचर फ़िल्म की शुरुआत "पुंडलिक'' नामक फ़िल्म से मानते हैं,जिसका निर्माण 1912 में हुआ। आर.जी.तोरने और एन.जी.चित्रे द्वारा यह फ़िल्म 18 मई 1912 को मुंबई के "कोरेनेशन सिनेमा" में रिलीज़ की गयी थी। इसकी पृष्ठभूमि धार्मिक थी। लेकिन यह एक थिएट्रिकल फ़िल्म थी। कोई कहानी आधारित पहली फीचर फ़िल्म हिंदू पौराणिक कहानी पे बनी "राजा हरिश्चंद्र" ही है। यह फ़िल्म भी मुंबई के "कोरेनेशन सिनेमा" में रिलीज़ की गयी थी। दादा साहेब फालके ने अपने लंदन प्रवास के दौरान ईसा मसीह के जीवन पर आधारित एक चलचित्र देखा था। उस फिल्म को देखकर दादा साहेब फालके के मन में पौराणिक कथाओं पर आधारित चलचित्रों के निर्माण करने की प्रबल इच्छा जागृत हुई।

फिल्म "राजा हरिश्चंद्र" की अपार सफलता के बाद दादा साहब फाल्के ने वर्ष 1914 में सत्यवान सावित्री का निर्माण किया। लंका दहन,श्री कृष्ण जन्म,कालिया मर्दन,कंस वध, शकुंतला, संत तुकाराम और भक्त गोरा जैसी फिल्में उन्होने 1917 तक बना ली थी। वर्ष 1919 मे प्रदर्शित दादा फाल्के की फिल्म कालिया मर्दन महत्वपूर्ण फिल्म मानी जाती है। इस फिल्म मे दादा फाल्के की पुत्री मंदाकिनी फाल्के ने कृष्णा का किरदार निभाया था। 16 फरवरी 1944 को दादा फाल्के का देहांत महाराष्ट्र के नाशिक में हुआ।[3]

सन 1913 से सन 1930 तक का हिंदी सिनेमा 'मूक सिनेमा' के नाम से जाना गया। यह भारत के लिए गौरव की बात है कि सन 1926 में बनी फिल्म "बुलबुले परिस्तान" पहली फिल्म थी जिसका निर्देशन किसी महिला ने किया था। बेगम फातिमा सुल्ताना इस फिल्म की निर्देशिका थीं। वर्ष 1921 में बनी फिल्म "भक्त विदुर" कोहिनूर स्टूडियो के बैनर तले बनायी गयी एक सफल फिल्म साबित हुई थी। बाबूराव पेंटर ने 1920 में बनी अपनी फ़िल्म "वत्सला हरण" के लिए पोस्टर जारी किया। इसी वर्ष 1921 मे प्रदर्शित फिल्म "द इंग्लैंड रिटर्न" पहली सामाजिक हास्य फिल्म

---

[3] बहुबचन 39 पृ॰ सं॰ 64

साबित हुई । 1920 में बनी सुचेत सिंह की फ़िल्म "शकुंतला" में अमेरिकी अभिनेत्री डोरोथी किंगडम ने काम किया था। इस फिल्म का निर्देशन धीरेन्द्र गांगुली ने किया था। इन 17 वर्षों के कालखंड में लगभग 1300 से अधिक फिल्मों के निर्माण की बात स्वीकार की जाती है।

सन 1913 से 1930 तक का समय हिंदी सिनेमा का प्रारंभिक काल माना जा सकता है। देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा था। अपनी आज़ादी के लिए तड़फड़ा रहा था। 1926 में 'वंदे मातरम आश्रम" नामक फ़िल्म के प्रदर्शन से पहले ही सरकार ने रोक लगा दी थी। इस दौर की मूक फिल्में भी बोलनें के लिए कुलबुला रहीं थी। 1931 से इन फिल्मों ने बोलना सीख लिया। यद्यपि मूक फिल्में लगभग 1934 तक बनती रहीं। लेकिन 1931 से 1934 के बीच में ही निर्मित कुछ फिल्में ऐसी भी बनीं जिन्होंने ख़ूब जम के बोला। मसलन 1932 में बनी 'इंद्रसभा" नामक फ़िल्म में 69 या इससे अधिक गाने फिल्माए गए जबकि आलम आरा में 07 गाने फ़िल्माये गए थे।

1930 का हिंदी फ़िल्मों का दशक अपने केंद्र में पौराणिक और धार्मिक कथाओं को समेटे हुए था। लेकिन तत्कालीन सामाजिक संदर्भों को लेकर भी कुछ फिल्में बनने लगी थीं। पहली बोलती फ़िल्म "आलम आरा" को माना जाता है जिसे आर्देशिर ईरानी ने 1931 में निर्मित किया। इस फिल्म की शूटिंग रेलवे लाइन के पास की गई थी इसलिए इसके अधिकांश दृश्य रात के हैं। रात के समय जब ट्रेनों का आना-जाना बंद हो जाता था तब इस फिल्म की शूटिंग की जाती थी। 1933 में बनी "कर्मा" भारत की पहली बोलती अंग्रेजी फ़िल्म थी। "kissing seen" की शुरुआत भी इसी फ़िल्म से हुई। स्टंट फिल्मों की शुरुआत भी 1934 में बनी फ़िल्म 'हंटरवाली" से हुई जिसकी अभिनेत्री नाड़िया स्टंट क्वीन के नाम से जानी गयी। फ़िल्मकार मोहन भवनानी के लिए मुंशी प्रेमचंद ने फ़िल्म लिखी।यह फ़िल्म 'मिल मज़दूर" और "गरीब मज़दूर" नाम से भी पंजाब में प्रदर्शित हुई। 1934 में प्रेमचंद की ही कृतियों पे 'नवजीवन' और "सेवासदन' नामक फिल्में बनी। इस फ़िल्म का प्रभाव इतना अधिक था कि इसे कई शहरों में सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया था।

1935 में देवदास फ़िल्म ने के.एल.सहगल को हिंदी फ़िल्मों का स्टार बना दिया। अमृत मंथन भी इसी दौर की फ़िल्म थी जिससे जूम शॉट की शुरुआत हुई। 1933 में प्रदर्शित फिल्म कर्मा इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि उस फिल्म की नायिका देविका रानी को लोग फिल्म स्टार के नाम से संबोधित करने लगे और वे भारत की प्रथम महिला फिल्म स्टार बनीं। इसी दशक ने के.एल.सहगल, अशोक कुमार, मोतीलाल, सोहराब मोदी और पृथ्वीराज़ कपूर जैसे अभिनेता दिये। यह फ़िल्मों को लेकर सीखनें और प्रयोग का दशक था।

1930 से 1940 के बीच के कालखंड मे फिल्मे सामाजिक विषयों पर केंद्रित थी। वी. शांता राम की ' दुनिया न माने', पी. सी . बरुआ की ' देवदास' , देवकी बोस की ' विद्यापति' , फ्रांज आस्टेन की 'अछूत कन्या' , महबूब की 'औरत' आदि इस काल की महत्वपूर्ण फिल्मे हैं ।आर्देशर इरानी ने 1937 मे एक रंगीन चित्र 'किसान कन्या'बनाया,लेकिन विश्वयुध्द ने ' रंगीन सिनेमा'के आर्थिक पछ को प्रभावित किया।[4]

1940 का हिंदी फ़िल्मों का दशक गंभीर और सामाजिक समस्याओं से जुड़े मुद्दों को केंद्र में रखकर फ़िल्मों के निर्माण का समय था । इटली में उभरे नवयथार्थवाद की गहरी छाप इस दशक के फ़िल्मों में दिखाई पड़ती है। समकालीन चेतना इस दौर के फ़िल्मों के केंद्र में थी। आज़ादी की ख़ुशी और गुनगुनाहट इस दौर की फ़िल्मे थी। दिलीप कुमार जैसे सशक्त नायक थे। हिंदी सिनेमा में संगीत का जादू भी इन्ही दिनों शुरू हुआ। प्रेमचंद की कहानी "त्रिया चरित्र" के आधार पर 'स्वामी' नामक फ़िल्म बनी। 1946 में 'रंगभूमि' पे भी इसी नाम से फ़िल्म बनी। राजकपूर की "बरसात" 1949 में ही आयी। लता मंगेशकर जैसी गायिकाएं सामने आयीं। दिलीप कुमार की पहली हिट फ़िल्म "मिलन" इन्ही दिनों आयी । अन्य फिल्मों में ज्वार भाटा, प्रतिमा प्रमुख रहीं । आर.के.फ़िल्म्स, नवकेतन, राजश्री समेत कई प्रोडक्शन हाउस के आगमन भी इसी दशक में

---

[4] भारतीय सिने-सिद्धान्त अनुपम ओझा पृ॰ सं॰ 52

हुआ।खलनायक के रूप में प्राण का आगमन इसी दशक में हुआ। 1941 में बनी फ़िल्म 'किस्मत' ने राक्सी टाकीज़(कलकत्ता) में तीन साल और आठ महीने तक लगातार प्रदर्शित होने का रिकार्ड बनाया। इफ्टा द्वारा निर्मित पहली फ़िल्म "धरती के लाल" भी इसी दशक में 1946 में बनी। चेतन आनंद की 1946 में बनी फ़िल्म "नीचा नगर" कान फ़िल्म फेस्टिवल में बेस्ट फ़िल्म अवार्ड का ख़िताब जीतने में कामयाब रही। जुबली स्टार के नाम से प्रसिद्ध राजेन्द्र कुमार, ट्रेजडी क्वीन मीना कुमारी, अप्रतिम सौंदर्य की रानी मधुबाला और नरगिस ने भी इसी दशक में हिंदी सिनेमा जगत के अभिनय क्षेत्र में पदार्पण किया। गुरूदत्त, के. आसिफ., कमाल अमरोही, चेतन आंनद जैसे महत्वपूर्ण फिल्मकार और शंकर-जयकिशन, सचिन देव बर्मन, खय्याम, शैलेन्द्र, हसरत जयपुरी, मजरूह सुल्तानपुरी जैसे गीतकारों ने हिंदी सिनेमा को अपनी कला से इसी दशक से समृद्ध करना शुरू किया। हुस्नलाल भगतराम जी की पहली संगीतकार जोड़ी भी 1944 की "चाँद" नामक फ़िल्म से सामने आयी।

1949 मे सोहराब मोदी ने ऐतिहासिक फिल्म 'पुकार' बनाकर अपनी[5] विशेष पहचान बनाई। विजय भट्ट ने पौराणिक मिथको पर आधारित 'भरत मिलाप' और 'राम राज्य' जैसी फिल्मे बनाई। पचास के दसक मे 'नवयाथार्थवाद' प्रभाव सिनेमा पर दिखने लगा। बिमल राय की 'दो बिघा जमीन' , महबूब की 'आन' के.ए. अब्बास की ' राही' राजकपूर की 'आवारा'और 'जागते रहो' ,वी. शांताराम की ' दो आंखे बारह हाथ' गुरुदत्त की ' प्यासा'आदि महत्वपूर्ण फिल्मे इसी दौर मे बनी।

साठ के दसक मे ' मुगले - आजम' एक विस्फोटक प्रदर्शन सबित हुई। के. आसिफ को इस फिल्म ने हिंदि सिनेमा के इतिहास मे अमर कर दिया। यह दशक हिट फिल्मो का दशक है –

---

[5] भतारतीय सिने-सिद्धान्त अनुपम ओझा पृ॰ सं॰ 52

राजकपूर कि ‘ संगम’ रामानन्द सागर कि ‘ आरजू’ , गुरुदत्त कि ‘ साहब बीवी और गुलाम’ जैसी फिल्मो ने गम्भीर दर्शको को अपनी ओर आकर्षित किया।

सत्तर से ही सिनेमा का मूल्यांकन उसे दो प्रकरो मे बांटकर होने लगा। काला सिनेमा और लोक प्रिय सिनेमा । लोकप्रिय सिनेमा कि प्रतिक्रिया मे साठ के दशक मे ही फिल्मकारो का अलग वर्ग उभरना शुरु हुआ , जिसे ‘समांतर सिनेमा’ , ‘ कला सिनेमा’ और नया सिनेमा (New Wave Cinema) आदि नामो से पुकारा जाता है। इस तरह की फिल्मो की विशेषताओ मे ‘ छोटा बजट’ यथार्थ पर केंद्रित विषय-वस्तु और भारतीय दृश्य महत्वपूर्ण हैं फ्रांसीसी नया सिनेमा कि तरह ये फिल्मकार किसी एक आदर्श को केंद्र मे रखकर नहीं खड़े हुए। यहा तक की ‘कला सिनेमा’ के फिल्मकार एक भाषी तक नही हैं । सिर्फ एक भाषा उन लोगो की समान है , वह है सिनेमा की दृश्य – भाषा, जिसके माध्यम से वे भारत के जीवन – यथार्थ को पर्दे पर लाते हैं ।

समानांतर सिनेमा की इस धारा को बाद में सत्यजीत राय, ऋत्विक घटक और मृणाल सेन जैसे फिल्मकारों ने आगे बढ़ाया. सत्यजीत राय ने 1955 में अपनी पहली फिल्म बनाई ‘पाथेर पांचाली’. विभूतिभूषण बंधोपाध्याय के उपन्यास पर आधारित इस फिल्म ने सत्यजीत राय को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्थापित कर दिया.‘पथेर पांचाली का प्रथम प्रदर्शन हमारे देश में ना होकर न्यूयोर्क में किया गया था. बाद में इसे फ्रांस के अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में दिखाया गया फ्रांस के समीक्षक आंद्रे बाजां ने इस फिल्म पर सटीक टिपण्णी लिखी, जिसे पढकर फिल्म समारोह की जूरी[6] ने इसे फिर से देखा और बाद में इस फिल्म को सर्वोत्तम मानवीय दस्तावेज का दर्ज़ा देकर पुरुस्कृत किया गया. बाद के वर्षों में सत्यजीत राय ने अपराजिता (1956), अपूर संसार (1959), तीन कन्या (1969), शतरंज के खिलाडी (1977) और सदगति (1980) जैसी उत्कृष्ट फिल्में बनाई. 1984 में सत्यजीत राय को सिनेमा के सर्वोच्च राष्ट्रीय पुरूस्कार दादा साहब फाल्के अवार्ड से सम्मानित

---

[6] http://apnidaflisabkaraag.blogspot.in

किया गया.सिनमा के क्षेत्र में उनके असाधारण योगदान के लिए 1991में उन्हें विशेष ऑस्कर अवार्ड भी दिया गया.भारत मे कला सिनेमा कि आंतरिक प्रेरणा के स्रोत सत्यजित रे.माने जाते है जिन्होने 1955 मे पथेर पांचाली बनाकर.विश्व सिनेमा मे भारतीय सिनेमा को जगह दिलाई । यह फिल्म ' फिल्म फाइनेंस करपोरेशन' से ऋण लेकर पुरी की गई थी , जो 1980 मे 'रास्ट्रीय फिल्म विकास वित्त निगम' मे बदल गई । बाद मे एन. एफ. डी. सी.ने अन्य बहुत से फिल्मकारो को विकसित किया। हिंदुस्तान एक मात्र एसा देश माना जाता है , जहा किसी भी फिल्मकार के लिए अपनी पहली फिल्म बना लेना सरकारी सहयोग के चलते आसान है । मृणाल सेन ने 'भुवनशोम' भी इसी संस्था के सहयोग से बनाई ।[7]

सन् 1956 मे वी. शांताराम अपने जीवन की सबसे प्रयोगधर्मी फिल्म ' दो ऑखे बारह हाथ' बनाई , जिसे 1957 मे राष्ट्रपति का स्वर्णपदक मिला । इस फिल्म ने बर्लिन फिल्म समारोह मे सिल्वर मैडल तथा फारेन प्रेस एसोसिएशन की तरफ से गाडविन अंतर्रास्ट्रीय फिल्म अवार्ड प्राप्त किया। जेल मे कैदियो के साथ पारम्परिक बर्ताव को यह फिल्म एक नये मनोवैज्ञांनिक आयाम मे प्रस्तुत करती है । यथार्थवादी प्रभाव की दृष्टि से गुरुदत्त की ' प्यासा ' भी एक महत्वपूर्ण फिल्म । सन 1957 मे गुरुदत्त नए प्यासा बनाकर जीवन यथार्थ को फिल्माने का एक नया नजरिया प्रस्तुत किया । प्यासा हर दृष्टि से एक कवि की कहानी है विजय नामक नायक को यह सुझाव दिया जाता है कि वह लोगो के दु: ख- दर्द से जुडी कविताए न लिख कर प्रेम कविताए लिखे। एक कवि के अपने परिवार , समाज तथा प्रकाशन तन्त्र से सम्बन्धो के आयामो को इस फिल्म मे विस्तार पूर्वक समेटने की कोशिश की गई है । शायद इसी लीए यह फिल्म सिने- ब्याकरण की दृष्टि से थोडी ढीली –ढाली पड गई है किंतु कथानक की सशक्तता ने इसे कला और ब्यवसाय दोनो ही धरातलो पर सफल बनाया । 'प्यासा' फिल्म अपने यथार्थवादी साहित्यिक गीतो के चलते भी महत्वपूर्ण है |

[7] भारतीय सिने-सिद्धांत अनुपम ओझा पृ. सं. 54

1957 मे जब गुरुदत्त ने ' प्यासा' प्रस्तुत की थी , उस समय महबूब खान ने 'मदर इंडिया' प्रदर्शित की थी यह फिल्म महबूब के लगभग दो दशक पहले की फिल्म ' औरत' का पुनर्निमाण थी । 1958 मे नरगिस दत्त ने ' मदर इंडिया' मे निभाई गई भूमिका के लिए ' कार्लोवी वेरी फिल्म समारोह' मे सर्वश्रेष्ट अभिनेत्री का अवार्ड प्राप्त किया । एक किसान की पत्नी का, अपाहिज पति के भाग जाने के बाद , संघर्ष करते हुए बच्चों को पालने- पोसने के जीवन को केंद्र मे रखकर यह फिल्म बनाई गई थी ।ऋण देकर मजबूर भोले किसानो का शोषण करने वाली साहूकारी प्रथा का इस फिल्म में बहुत जीवंत चित्रण किया गया है।

1963 में के. ए. अब्बास के निर्देशन मे ' शहर और समाज' नामक एक श्रेष्ट यथार्थधर्मी फिल्म आई। पंजाब का एक किसान युवक रोजगार की तलाश मे बम्बई आता है ,और उसे पता चलता है कि यहॉ सिर पर छत पाना सबसे बडी समस्या है अपनी इस तलाश के चलते वह बम्बई के फुतपाथ पर रहनेवालो के विभिन्न वर्गो के अलावा अपराध- जगत के लोगो के सम्पर्क मे भी आता है । इन्ही बेघर – लोगो मे उसे अपनी मनपसन्द लड़कि मिल जाति है , और वह उससे शादी कर लेता है । लेकिन मकान की उसकी मूल समस्या जहॉ कि तहॉ रहती है । इस फिल्म ने 1964 मे राष्ट्रपति का स्वर्णपदक और ' कार्लोवी वेरी' मे विशेष पुरस्कार जीता ।

1966 मे हिंन्दी जमीन की पहली फिल्म ' तीसरी कसम' बनकर आई । इस फिल्म का निर्माण शैलेंद्र ने किया । कहानी हिंन्दी के प्रसिध्द कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु की है तथा इसका निर्देशन बसु भट्टाचार्य ने किया । भोले भाले गाड़ीवान हीरामन को नेपाल की सीमा पर माल ले जाने के जुर्म मे पुलिस पकड़ती है । वह पहली कसम खाता है कि अब कभी माल की लदनी नही करेगा । दूसरी कसम वह अपनी गाडी पर कभी बॉस न लादने की खाता है ।क्योंकि इससे एक दुर्घटना हो जती है , लेकिन असली और तीसरी कसम उसे बहुत ही करुण परिस्थितियों मे कि. कभी किसी नौटंकी कम्पनी की किसी बाई की सवारी न लेने की तीसरी कसम खाता है । इस तरह से यह फिल्म तीन

कसमों पर आधारीत फिल्म थी | तीसरी कसम से पहले की हिन्दी भाषा मे बननेवाली फिल्मों को कथानक और परिवेश की दृष्टि से हिन्दी परिवेश की फिल्म नहीं कहा जा सकता है | 'दो बीघा जमीन' का कथानक बंगला के ग्रामीण और महानगर कलकत्ता के वातावरण मे घटित होता है |[8] 'तीसरी कसम' पहली फिल्म थी जिसका कथानक ,जिसके चरित्र और भाषा-स्वरूप तथा हिन्दी क्षेत्र की नजदीकी बोलियों भोजपुरी ,मैथिली, वज्जिका आदि के निकट थी, खासतौर से कथानक का घटना – स्थल पूर्णिया के आस- पास का वातावरण था |

कला सिनेमा आंदोलन की जमीन बनाने मे भारतीय सिनेमा के अनेक सुज्ञात , अल्पज्ञात फ़िल्मकारों लेखको,कलाकारो की महत्वपूर्ण भूमिका रही है

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्यवसायिकता के बढ़ते दबाव के बावजूद 1947 के आस-पास से ही हिन्दी मे सार्थक फिल्मों के निर्माण की छटपटाहट बढने लगी थी | 1947 से 1968 तक की फिल्मों मे एक प्रयोग की बेचैनी दिखाई देती है | 1968 मे सुनील दत्त ने एक प्रायोगिक फिल्म 'यादें' बनाई | यह एक ही चरित्र पर केन्द्रित पहली हिन्दी फिल्म है किन्तु 1955 से ही बंगला मे फ़िल्मकार किसी एक भारतीय भाषा मे पहली बार बिना किसी विचलन के यथार्थवादी शैली की फिल्मे लगातार बनने के साथ सार्थक फिल्मों पर लिखने –बोलने का भी काम कर रहे थे |

नए भारतीय सिनेमा को बंगला से बाहर आने मे काफी समय लगा | बंबई मे विमल राय, गुरु दत्त आदि कुछ फ़िल्मकार मुख्यधारा से अलग हटकर सार्थक सिनेमा बना जरूर रहे थे , परंतु वहाँ कोई मूवमेंट नहीं उभर सका | विनोद भारद्वाज ने लिखा है __ "मृणाल सेन की हिन्दी फिल्म 'भुवनशोंम' ने भारतीय सिनेमा मे नई धारा की सुरुआत की पर बंगला मे वे 'एक दिन प्रतिदिन' (1979)सरीखी फिल्मों के बाद ही अपनी सिनेमा-भाषा की सार्थकता पा सके | मृणाल सेन को यदि चर्चा और सम्मान देर से मिला तो उसका कारण उनका अपना सिनेमा ही था |

---

[8] भारतीय सिने-सिद्धान्त अनुपम ओझा पृ.सं॰ 122

ऋत्विक घटक ने फिल्म- संस्थान मे शैक्षणिक रूप से भी सक्रिय सहयोग दिया | सत्यजित रे , ऋत्विक घटक , और मृणाल सेन के पीछे हिन्दी सहित तमिल ,तेलगु , मलयालम , कन्नड आदि भाषाओ मे फिल्मकारो की एक नई पीढ़ी सन् 1970 के आस-पास सक्रिय हो उठी और यथार्थवादी फिल्मों की धारा ने एक देश ब्यापी आंदोलन का रूप धारण कर लिया |ये सभी फिल्मकार कम बजट के पक्षधर ,चमक-दमक के नकलीपन से दूर तथा 'स्टार-सिस्टम' के विरुद्ध थे |

तीसरी कसम ,कागज के फूल ,प्यासा ,मदर इंडिया , आदि फिल्मे यथार्थ की रूमानी प्रस्तुतिया थीं | 'भुवन शोम'पहली हिन्दी फिल्म है , जिसमे यथार्थ को उसके निजी स्वरूप मे प्रस्तुत करते हुए सिनेमा की निजी भाषा और मुहावरे का भी सशक्त प्रयोग किया गया | इस फिल्म ने दर्शको को मनोरंजन के स्तर से उठाकर बिचार और चिंतन की स्थिति मे पहुँचा दिया | मृणाल सेन ने 'भुवन शोम' से हिंदी सिनेमा में एक सर्वथा नयी रचना प्रक्रिया का शुभारंभ किया. 'भुवन शोम ने समानांतर सिनेमा की धारा को एक नयी गति प्रदान की.1956 में अपनी पहली फिल्म 'रात-भोर' बनाने वाले मृणाल सेन की अपनी अलग पहचान बनी 'बैशेय श्रावन' (1960) से. इसके बाद बनी 'आकाश कुसुम' को भी उनकी उल्लेखनीय कृति माना जाता है. 1969 में मृणाल सेन 'भुवन शोम' लेकर आये, जिसने विचारों के सिनेमा को एक नया अर्थ प्रदान किया 'भुवन शोम' ने दर्शकों को न सिर्फ झकझोरा, बल्कि उन्हें उत्तेजित भी किया और यह सोचने पर मजबूर किया की अथाह दलदल से बाहर निकलने का रास्ता आखिर क्या है?

'फ्रेंच न्यू वेब' के फिल्मकारों ने सिनेमा को श्रेष्ठ साहित्य के समानान्तर महत्व दिलाया | हिन्दी मे भी नया सिनेमा आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका इसी संदर्भ मे रही| 'भुवन शोम' के बाद साहित्यिक कृतियों के रूपान्तरण का प्रवाह प्रबल वेग से बह चला | पहली बार हिन्दी सिनेमा का सक्रिय संबंध हिन्दी के समकालीन साहित्यकारों से हुआ और साहित्यिक बिधाओं उपन्यास

,कहानी कविता आदि की तरह सिनेमा मे गंभीर रचनाशीलता का आरंभ हुआ |[9] नया सिनेमा आंदोलन मे फिल्म सोसाइटी मूवमेंट की महत्वपूर्ण भूमिका रही है |बंबई मे अरुण कौल के सहयोग से मृणाल सेन ने इस मूवमेंट को आगे बढ़ाया |

1969 मे ही यथार्थवादी धारा की एक फिल्म 'सत्यकाम' ऋषिकेष मुखर्जी ने बनाई ,जिसमे एक सत्यवक्ता इंजीनियर के जीवन के आस -पास कथानक की सुघड़ संरचना की गई है | यह फिल्म श्री नारायण सान्याल के उपन्यास पर आधारित थी , जिसकी पठकथा विमल दत्त ने तथा संवाद राजेंद्र सिंह बेदी ने लिखे थे | इसी वर्ष के० ए .अब्बास ने 'सात हिंदुस्तानी ' फिल्म मे अमिताभ बच्चन को प्रस्तुत किया | ये फिल्मे यथार्थवाद की रूमानी प्रस्तुतियो की परंपरा की अगली कड़ियाँ थी |और इसी वर्ष गुलजार ने 'खामोशी ' बनाई |

इस वर्ष की तीसरी महत्वपूर्ण कला फिल्म मोहन राकेश की कहानी पर आधारित 'उसकी रोटी'है जिसका निर्देशन , निर्माण एन एफ डी सी के आर्थिक सहयोग से मणि कॉल ने किया | एक ही वर्ष मे क्रमशः बननेवाली तीनों फिल्मे 'भुवन शोम' 'सारा आकाश'और 'उसकी रोटी'ने काल-पटल पर तीन अलग –अलग लकीरें खींची |

सन 1972 मे बासु भट्टाचार्य ने एफ एफ डी के सहयोग से 'अनुभव' बनाई | 'तीसरी कसम' रेणु की कहानी पर आधारित थी | किन्तु अनुभव (1972) से आविष्कार(1974),गृह प्रवेश (1979),पंचवटी (1986)तथा आस्था (1996) तक बासु भट्टाचार्य पति –पत्नी संबंधो के आलोक मे घरेलू और बाहरी समस्याओ को परखते हैं | 'अनुभव' मे जहां पति –पत्नी संबंधो मे विवाह पूर्व संबंधो के बीच मे आने के तनाव को चित्रित किया गया है ,वहीं 'आस्था' मे घर की चारदिवारी मे प्रवेश करते बाजार को बारीकी से रेखांकित किया गया है | बासु भट्टाचर्य की इन फिल्मो मे एक विषय वस्तु को गहनता से व्यक्त करने की निरंतरता दिखाई देती है |

---

[9] भारतीय सिने-सिद्धान्त अनुपम ओझा पृासं॰ 127

कुमार साहनी ने "माया दर्पण" 1972 बनाकर सिने भाषा के प्रति गंभीरता सोच का प्रमाणपत्र देते हुए कला फिल्मकारों की श्रंखला मे अपना नाम दर्ज कराया |माया दर्पण को लोकर्णों फिल्म समारोह मे "कार्ज एंड रिगर" पुरस्कार से सम्मानित किया गया |कुमार साहनी का नाम पूर्ण प्रयोग वादी फ़िल्मकारों मे मणि कौल के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं |कुमार साहनी पेरिस के न्यू वेब के महत्वपूर्ण फ़िल्मकार राबर्ट ब्रेसां के सहायक के रूप मे काम कर चुके हैं |माया दर्पण मे ब्रेसां के प्रभाव को लक्षित किया गया हैं |तो यह स्वाभाविक था कुमार साहनी ने ब्रेसां को अच्छी तरह आत्मसात किया है और अपना निजी मुहावरा गढ़ा है |

सार्थक सिनेमा के प्रमुख हस्ताक्षर श्याम बेनेगल ने अपने फिल्म करियर की शुरुआत विज्ञापन फिल्मों से की. 1973 में उन्होंने पहली फीचर फिल्म बनाई 'अंकुर', गांवों में शहरी घुसपैठ के बुरे नतीजों पर आधारित यह फिल्म बेहद कामयाब रही. 'अंकुर'ने कुल 42 पुरस्कार जीते, जिनमें तीन राष्ट्रीय पुरस्कार ही शामिल है. इसके बाद श्याम बेनेगल ने 'निशांत (1975) और मंथन (1976)' का निर्माण किया. 'मंथन' को राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया

सन 1973 मे श्याम बेनेगल ने "अंकुर" और एम एस सथ्यु ने "गरम हवा" बना कर हिन्दी कला सिनेमा आंदोलन को आगे बढ़ाया|सुधीर दीक्षित का कहना हैं की हमारे यहाँ बेहतर फिल्मों के बहुत से निर्देशक मानते हैं की सिनेमा को कोलाज होना चाहिये पर बेनेगल मानते हैं की सिनेमा को सबसे पहले सिनेमा होना चाहिए इसके बाद वो चाहे और कुछ हो |श्याम बेनेगल को यदि कला फिल्मों के तिलिस्म को तोड़ने वाले भूतनाथ की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी|

श्याम बेनेगल ने कला सिनेमा को कुछ इतने ज्यादा करीब से देखा हैं की दूर से आकर्षक लगने वाले उसके चेहरे के बदनुमा दाग मुहासों और झाइयों ने उन्हे बिचलित कर दिया |श्याम बेनेगल ये भली भांति जान गए हैं की कला सिनेमा गंदगी, गरीबी , अमानवीयता के उस छलावे

का नाम हैं जो हिन्दुस्तानी होते हुए हिन्दुस्तानी नहीं हैं |ऐसा नहीं हैं की बेनेगल यूरोपियन सिनेमा के प्रभाव से अछूते रहे हो अंकुर से निशांत तक उनकी सभी फिल्मों पर तकनीति और कथ्य दोनों दृष्टियों से कला सिनेमा एक तरह से हावी रहा हैं , नव यथार्थ वादी सिनेमा जैसे बाइसिकिल थीव्स से काफी प्रभावित होने के बाद भी बेनेगल को उससे ऊपर उठने की जरूरत महसूस हुई क्योकि भौतिक यथार्थ ही अंतिम सिनेमाई सत्य नहीं होता| श्याम बेनेगल ने 'निशांत', 'मंथन', 'भूमिका', 'मंडी', 'आरोहण', 'सरदारीबेगम', आदि महत्वपूर्ण फिल्मे बनाई है | श्याम बेनेगल के सिनेमा को न तो कला सिनेमा और न ही ब्यावसायिक सिनेमा की संज्ञा दी जा सकती है, हाला की 'अंकुर' से मंथन तक उनकी फिल्मों मे साम्यवाद , प्रतिबध्दूता इत्यादि का प्रभाव रहा | 'भूमिका' से श्याम बनेगल इब्सन और स्ट्रिंडबर्ग की तरह नवयथार्थवाद से उबरे और उन्होने अधिक मानवीय स्तर पर फिल्मे बनाना शुरू किया जो लोक प्रिय स्तर भी था|

1973 मे ही एम एस सथ्यू ने एन एफ़ डी सी से आर्थिक सहयोग लेकर 'गर्म हवा' फिल्म बनाई | अपनी पहली फिल्म 'गर्म हवा'बनाकर सथ्यू ने भारत विभाजन से उपजी समस्याओ का सटीक विवेचन प्रस्तुत किया | 'गर्म हवा' मे सथ्यू एक ऐसा पात्र उठाते है ,जो इस विश्वास को जी रहा है की इस देस का विभाजन संभव ही नहीं है किस प्रकार पूरे समाज तथा राजनीति की गलत सोच किसी एक ब्यक्ति की सही सोच पर हवी हो जाती है तथा यह समाज अपनी गलतियों से कुछ सीखने की बजाय उस ब्यक्ति के अस्तित्व को ही नष्ट करने पर तुल जाता है | 'गर्म हवा' इस मानोवृत्ति के रेशे उधेड़ कर दिखाने वाली सशक्त रचना है | सन 1973 मे सत्यजित रे ने 'असनि संकेत'का बंगला मे निर्माण किया|इसी वर्ष अवतार कृष्ण ने एन एफ़ डी सी के सहयोग से अपनी पहली कला-फिल्म '27डाउन' बनाई | यह फिल्म बक्षी के उपन्यास 'अठारह सूरज के पौधे' का सिने रूपान्तरण है | 27डाउन के माध्यम से हम एक अत्यंत प्रतिभावन और प्रतिबध्द फिल्मकार के कृतित्व से परिचित हो पाते हैं |

गोबिन्द निहलानी ने अपनी पहली फिल्म आक्रोश 1980 से ही एक गंभीर फिल्मकार के रूप मे अपनी प्रतिष्ठा बना ली | सन 1981 के नई दिल्ली फिल्म महोत्सव मे 'आक्रोश' को पुरस्कृत किया गया था | गोविंद निहलानी ने वायु सेना की पृष्ठभूमि मे 'विजेता' (1983)बनाई |1983 मे 'अर्धसत्य' ,1984 मे 'पार्टी',1985 मे 'आघात', तथा 1986 मे पाँच घंटे की लंबी फिल्म 'तमस'का निर्माण किया | 'तमस' टेलीविज़न के लिए बनाई गई थी | निहलानी की फिल्मों का केंद्रीय विषय हिंसा और विभाजन की त्रासदी है श्याम बेनेगल की फिल्म 'अंकुर' मे गोविंद निहलानी कैमेरामैन थे | गोविंद निहलानी की फिल्म को कला या ब्यावसायिक , जैसे नाम की जरूरत नहीं | ये फिल्मे पोलिस प्रशासन , राजनीति तथा समाज के भीतर ब्याप्त भ्रष्टाचार और हिंसा को सही परिप्रेक्ष्य मे देखने का सर्जनात्मक प्रयास है | इनका मानना है कि सिनेमा समाज को बदलने का एक सशक्त माध्यम है 'आक्रोश' मे भ्रष्ट –राजनीतिक जीवन का खुला और साफ चित्रण है | 'अर्ध सत्य' मे पुलिस कि कार्यशैली का यथार्थवादी चित्रण है राज नीति और पुलिस का इतना स्पष्ट चित्रण हिन्दी सिनेमा मे पहली बार हुआ |

सन 1983 मे महेश भट्ट ने 'अर्थ' बनाकर एक गंभीर फिल्मकार के रूप मे छवि बनाई | इसके बाद कि दो फिल्मे 'सारांश' और 'जन्म' ने भी इसी छवि को मजबूत किया |किन्तु 'नाम' से वो घोर ब्यावसायिक सिनेमा के प्रवाह मे अपनी रचनाशीलता लेकर गए उसके बाद उन्होने 'कब्जा', 'जुनून ', 'आशिक़ी , 'सड़क' कामर्शियल फिल्मे बनाई |[10]

सन1984 मे 'दामुल'बनाने से पहले प्रकाश झा 'हिप –हिप-हुर्रे' बना चुके थे , जो एक मनोरंजन फिल्म होने के बावजूद कमर्शियल सिनेमा के स्वरूप से हटकर बनाई गई थी | 'दामुल' मे उन्होने एक यथार्थवादी विषय का निर्वाह किया है | प्रकाश झा बिहार के वातावरण से भली-भाँति परिचित हैं 'दामुल' का अर्थ होता है फांसी | फिल्म का कुछ कथानक बिहार के गांवो मे प्रचलित

[10] भारतीय सिने-सिद्धांत अनुपम ओझा 138

पनाह ब्यावस्था पर आधारित है जिसमे जमींदार कुछ खास बंधुआ मजदूरो को चुनकर उन्हे आश्रय देता है , और फिर उनसे जानवरों कि चोरी करवाता है |जो गरीब मजदूर पीढ़ी-दर-पीढी गले तक कर्ज मे डूबे हुए है , उनके पास इसके सिवा कोई चारा नही कि वह जमींदार के इशारो पर अपराधो मे संलग्न रहे | इस फिल्म मे पनाह समस्या स्थानीय रुप से दिखाई गई है लेकिन , उनके गाँव और समाजो मे इसके भिन्न- भिन्न रूप पाये जाते है इस फिल्म मे अन्य देहाती समस्याओं को भी छूआ गया है | जैसे – जतियों के झगड़े ,मजदूरों के विवाद , हरिजनो पर अत्याचार और आतंकवादी सामंती ढांचा – जिसमे फंसा किसान निकलने का कोई रास्ता नहीं पाता |

सईद मिर्जा ने अपनी पहली फिल्म 'अरविंद देसाई कि अजीब दास्तां' 1978 मे प्रस्तुत कि इनकी अन्य महत्वपूर्ण फिल्मे है 'अल्बर्ट पिन्टों को गुस्सा क्यों आता है ?' तथा मोहन जोशी हाजिर हो' आदि | 'अरविंद देसाई कि अजीब दास्तान' मे मुख्य पात्र धनी परिवार से उत्तपन्न होने के बावजूद अपने ही परिवेश मे अल्पसंख्यक है , क्योकि अपनी अलग सोच के कारण वह इस समाज से बाहर चला जाता है | 'अल्बर्ट पिन्टों को गुस्सा क्यों आता है ?' का अल्बर्ट अपने ईसाई समाज से बाहर कि इस सोच से सहमत नहीं हो पाता कि उनका भविष्य भारत से बाहर कही है |

मुजफ्फर अली 'उमराव जान' (1982)नामक फिल्म बनाकर विशेष रूप से चर्चित हुए | यह फिल्म मिर्जा हादी रुसवा के उपन्यास पर आधारित है | इस फिल्म मे एक तवायफ कि जिंदगी का बहुत ही मार्मिक फिल्मांकन किया गया है | इससे पहले वे 'गमन'नामक महत्व पूर्ण फिल्म बना चुके थे ,जो बंबई मे आकार बसे बाहरी मजदूरो के विषय मे थी | 'उमराव जान' के बाद मुजफर अली ने 'आगमन' और 'अंजुमन' नामक महत्वपूर्ण फिल्मे बनाई | किन्तु ये राजनीति मे सक्रिय हो जाने के चलते सिनेमा से दूर हटते गए| विषय- वस्तु की सार्थकता के बावजूद सिने-सिल्प पर उनकी पकड़ कमजोर रही है

शेखर कपूर ने 1982 मे 'मासूम' नामक कथा फिल्म का निर्माण किया | इस फिल्म मे विवाहपूर्व प्रेम से उत्पन्न बच्चे की समस्या को पुरुष और स्त्री तथा योनि – शुचिता आदि को पारंपरिक सामंती रूढ़ि मे परखा गया है इन्हों ने 1988 मे 'मि०इंडिया' नामक एक ब्यावसायिक हिट फिल्म भी बनाई | किन्तु सन 1994 मे बनी 'बैंडिट क्वीन' (जो फूलन देवी नामक पूर्व दस्यु के जीवन पर आधारित है)से ये यथार्थवादी फिल्म कारो की श्रिंखला मे गंभीरता से मूल्यांकित किए जाने लगे| रवीन्द्र धर्म राज ने 1980 मे 'चक्र' नामक फिल्म बनाई | 'चक्र' मे बंबई की झोपड़ पट्टी मे रह रहे लोगो के जीवन का यथार्थपरक और प्रभावशाली चित्रण हुआ है इस फिल्म के निर्देशक रवीन्द्र धर्मराज का तैंतीस वर्ष की छोटी आयु मे 11 फरवरी , 1988 को निधन हो गया |

मृणाल सेन के बाद मणि कॉल, बासु चटर्जी, अडूर गोपालकृष्णन, कुमार साहनी, श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी, अवतार कौल, गिरीश कर्नाड, प्रकाश झा और सई परांजपे जैसे संवेदनशील फिल्मकारों ने लीक से हटकर यथार्थवादी सिनेमा का निर्माण किया. इन फिल्मकारों की फिल्मों ने विचारों के संसार को एक नयी दिशा प्रदान की. जीवन से सीधे जुड़े विषयों पर विचारोत्तेजक फ़िल्में बनाकर इन फिल्मकारों ने सिनेमा के सृजन शिल्प का अनूठा प्रयोग किया. इनमें से कुछ फिल्मकार आज भी सार्थक सिनेमा की मशाल थामे आगे बढ़ रहे हैं.

समानांतर सिनेमा को प्रारंभिक दौर में काफी दर्शक मिले. मगर बाद में धीरे-धीरे इस तरह की फिल्मों के दर्शक कम होते चले गए. अस्सी और नब्बे के दशक के आखिर में सार्थक सिनेमा का आंदोलन धीमा पड़ गया. प्रकाश झा और सई परांजपे जैसे फिल्मकार व्यावसायिक सिनेमा की तरफ मुड गए. श्याम बेनेगल बीच में लंबे समय तक टेलीविजन के लिए धारावाहिक बनाते रहे. समानांतर सिनेमा की अंदरूनी कमियों के कारण भी यह आन्दोलन सुस्त पड़ने लगा. कारण यह हैं :-सार्थक सिनेमा आंदोलन से जुड़े फिल्मकारों ने अपने चारों ओर एक ऐसा कल्पनालोक रच डाला है, जिसमें से निकलना ना वे चाहते हैं और ना उनके लिए अब मुमकिन रह गया है. उनके इस

कल्पनालोक कला के लिए तो भरपूर स्थान है, पर व्यवसाय के लिए नहीं. जबकि इस मत पर कोई दो राय नहीं हो सकती है की कला और व्यवसाय में एक वैज्ञानिक रिश्ता होता है. यह रिश्ता ही कला को लोगों से जोड़ता है.

चलताऊ फिल्मों के भीड़ के बीच जब दो-एक साफ़-सुथरी फ़िल्में आई तो इन्हें पहले अच्छा सिनेमा कहा गया. बाद में यह समानांतर सिनेमा हो गया. शुरू में मुख्यधारा की फिल्मों और समानांतर सिनेमा का कोई दर्शक वर्ग अलग-अलग नहीं था. पर जल्द ही प्रयास करके दर्शकों के बीच भी एक रेखा खींच दी गई. समानांतर फिल्मों के साथ-साथ समानांतर दर्शक वर्ग भी खड़ा हो गया. इससे नुकसान ही हुआ. फिल्मकार को अब उस समानांतर दर्शक वर्ग की ज्यादा फ़िक्र थी और वह उसी को ध्यान में रखकर फिल्में बनाने लगा. नतीजा यह हुआ कि समानांतर सिनेमा मुख्य दर्शक वर्ग से पूरी तरह कट गया. उस समय भी और आज भी व्यावसायिक सिनेमा में भी कुछ अच्छी सिनेमा बनीं, पर अच्छी फिल्मों और कला फिल्मों को एक नहीं माना गया. हृषिकेश मुखर्जी की 'सत्यकाम' या गुरुदात कि 'प्यासा' अच्छी फिल्मे थीं, पर इन्हें कला फिल्म का दर्जा नहीं दिया गया. गुलज़ार की 'आंधी' या 'किताब' हो या हृषिकेश मुखर्जी की 'आनंद' या फिर शेखर कपूर की 'मासूम' में अच्छी फिल्मों के वे सभी गुण इनमें हैं पर यह सिर्फ अच्छी फ़िल्में हैं कला फिल्म नहीं. इसीलिए तमाम फिल्मकार और पूरा का पूरा मीडिया यह मानता है कि कला फिल्मों की शुरुआत मृणाल सेन कि 'भुवन शोम' से हुई.

कला फिल्मों के निर्देशक अपने को पूरी तरह ईमानदार कहलाना पसंद करते हैं. उनकी यही व्यावसायिक ईमानदारी जब कैमरा पर हावी हो जाती है तो कैमरा कथ्य को पकड़ने के बजाय दृश्य को पकड़ने लगता है. सत्यजीत राय की 'शतरंज के खिलाडी' या प्रकाश झा की 'दामुल' याद करें तो कोई दृश्य अगर शुरू हुआ तो खत्म होने का नाम ही नहीं लेता. कई मौके पर ऐसा लगता है कि निर्देशक कैमरा ऑन करके भूल गया है. बेमतलब प्रतीकों, खंडहरों और चुप्प अँधेरे को कैमरा

फोकस किये रहता है दर्शक इनमें भी मतलब खोजने की कोशिश करते रहते हैं. सवाल उठता है कि ऐसी गतिहीन और घटनाविहीन फिल्में दर्शक आखिर क्यों देखें ? गोविन्द निहलानी की ‘आघात’ और ‘अर्ध्यसत्य’ को लें. ‘अर्ध्यसत्य’ में निहलानी का कैमरा और दर्शकों का सोच, दोनों कि गति में पूरा तालमेल है. लिहाजा फिल्म को व्यावसायिक सफलता भी मिली. ‘पार्टी’, ‘तरंग’, ‘राव साहब’, ‘मैस्सी साहब’, यह वो मंजिल तो नहीं, ‘दामुल’ जैसी कला फिल्मों को भी यह विडंबना रही कि सिनेमा जैसा मीडियम जिस गति कि अपेक्षा रखता है, वह इनमें नहीं थी |

गतिहीनता के साथ-साथ कल्पनाशीलता का आभाव भी सार्थक सिनेमा को ले डूबा. कुछेक को छोड़ दें तो ज़्यादातर फ़िल्में ऐसी बनी हैं, जिन्हें देखने के बाद यह सवाल पूरी शिद्दत के साथ उभरता है कि आखिर इन्हें बनाने का मकसद क्या था ? प्रदीप कृष्ण की ‘मैस्सी साहब’ और सुधीर मिश्र की ‘यह वो मंजिल तो नहीं’ जैसी फिल्में देखकर दर्शक के मन में यह सवाल उठे बिना नहीं रहता कि समसामयिक दौर में इन फिल्मों की क्या प्रासंगिकता है ? ‘मैस्सी साहब’ का कथानक जो आज़ादी के पहले का है, वह भी अंग्रेजी उपन्यास ‘जानसन’ पर आधारित, जो मूलतः इंडोनेशिया कि पृष्ठभूमि पर लिखा गया है. प्रदीप कृष्ण ने थोड़े-बहुत फेरबदल के बाद इसे भारतीय पृष्ठभूमि में फिल्माकर पेश कर दिया है. इस फिल्म में कल्पनाशीलता का अभाव साफ झलकता है.

तथाकथित सार्थक सिनेमा कि एक त्रासदी यह भी रही है कि वह नकारात्मक दृष्टिकोण को ही प्रमुखता दिए रहा. यह फिल्में जनसाधारण के दुखों और संघर्ष को दर्शाती हैं उन पर चोट नहीं करती. दर्शकों में वैचारिकता नहीं जगाती. ‘मिर्च मसाला’ (केतन मेहता) में फिल्म का अंत जिस आकस्मिक तरीके से होता है, वह दर्शकों को कोई वैचारिक धरातल प्रदान नहीं करता, उन्हें रास्ता नहीं दिखता, बल्कि उनमें हताशा ही जगाता है. कामुक सूबेदार (नसीरुद्दीन शाह) से बचने के लिए गांव की औरतें उस पर लाल मिर्च का पाउडर फेंकती हैं. पर्दे पर लाल गुबार छा जाता है और यहीं फिल्म का अंत हो जाता है. यहाँ दर्शकों को ‘प्रतिघात’ या ‘कुदरत का क़ानून’ का अंत याद आता

है, जिनमें हिंसा का प्रतिकार हिंसा से किया गया है. इसमें अतिरंजना भले ही हो पर ऐसी नकारात्मकता नहीं, जिससे नाकामी के सिवाय कुछ हासिल नहीं होता. इसी तरह 'पार' और 'आघात' के चरित्र भी अंत में असफल ही रहते हैं और कमोबेश यही सब कुछ 'दामुल' में दर्शाया गया है. 1974 में बनी "नया दिन नई रात" फ़िल्म में एक ही अभिनेता द्वारा नौ किरदार निभाए गए। 1977 में "शतरंज के खिलाड़ी" प्रदर्शित हुई । यह वही दौर था जब जयप्रकाश नारायण ने जन आंदोलन चलाया। देश में आपातकाल लगा।

1980 का हिंदी फ़िल्मों का दशक यथार्थवादी फ़िल्मों का दौर था । अब सिनेमा का नायक जीवन की वास्तविकता की तरफ झुका हुआ दिखाई पड़ रहा था ।वह समझौतावादी भी हो गया था । राम तेरी गंगा मैली और मशाल जैसी हिट फिल्में इस दौर में बनी । इस घोर यथार्थवादी दौर में सच्चाई को दिखाने की होड़ सी लग गयी थी । समानांतर सिनेमा का आंदोलन भी इसी दौर में चला । "नियो वेव" सिनेमा का यह युग था । अंकुर ,आक्रोश,अर्ध सत्य और सारांश जैसी फिल्में इसी दशक में बनीं।

हैरत यह सोच कर होती है कि हमेशा जीवन के कटु यथार्थ पर सिनेमा रचने वाले इस फिल्मकार की नजर आज भी सकारात्मक अनंत की ओर देखती है. इतनी चाह सच्चाइयों को नजदीक से देखने-परखने और उसे परदे पर अभिव्यक्त करने के बाद भी उनके पास ठहराव नहीं, हर रोज एक नयी फिल्म रचने का ख्याल होता है. मृणाल सेन भारत में यथार्थपरक सिनेमा रचने वाले प्रमुख फिल्मकारों में से एक हैं. सत्यजीत रे और ऋत्विक घटक के समकालीन मृणाल सेन ने बांग्ला भाषा के साथ हिंदी, उड़िया और तेलुगु में भी यादगार फिल्में बनायी हैं.

उनकी ख्याति वैश्विक पटल पर भारत के समानांतर सिनेमा की छवि बदलने वाले फिल्मकार के तौर पर भी है. पिछले एक दशक से उनका कैमरा भले खामोश है, पर उनका मन हर रोज एक नयी फिल्म की कहानी बुनता है और उसमें उसके किरदारों की बैठकी होती है. 14 मई 1923 को

ब्रिटिश भारत के फरीदपुर, जो अब बांग्लादेश में स्थित है, में जन्मे मृणाल सेन कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए. यह प्रभाव उनकी फिल्मों में भी दिखता है. और इस विचारधारा के प्रति उनकी प्रतिबद्धता आज भी देखी जा सकती है. फिल्मकार बनने से पहले मृणाल सेन बतौर रिप्रेजेंटेटिव नौकरी करते थे. लेकिन साहित्य और फिल्मों से जुड़ी किताबें पढ़ने का शौक उन पर हावी था. फिल्मों से वे साउंड टेक्निशियन के तौर पर जुड़े.इस जुड़ाव के दौरान ही उनके भीतर के फिल्मकार ने आकार लिया और 1955 में उन्होंने बांग्ला भाषा में पहली फिल्म 'रात भोरे' बनायी. इसके बाद महादेवी वर्मा की कहानी 'चीनी फेरी वाला' पर बांग्ला में 'नील आकाशेर नीचे' निर्देशित की. इन फिल्मों से उन्हें स्थानीय स्तर पर पहचान मिली और उनके सिनेमाई सफर की एक परिपक्व शुरुआत भी हुई.

1943 में बंगाल में पड़े भीषण अकाल पर आधारित उनकी तीसरी फिल्म 'बाइशे श्रवण' ने उनके लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान का रास्ता बनाया. वहीं 'आकाश कुसुम' ने उन्हें महान फिल्मकारों की श्रेणी में शामिल कर दिया. सेन ने 1969 में पहली हिंदी फिल्म 'भुवन शोम' बनायी. खूबसूरत भावों के स्पर्श से कैसे लोगों का मन बदलता है, इसमें यह काफी प्रभावी तरीके से दिखाया गया है. बहुत ही कम बजट में बनी इस फिल्म के लिए मृणाल सेन को बेस्ट निर्देशक का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला. 1979 में 'एक दिन प्रतिदिन',1980 में 'अकालेर संधाने' और 1984 में 'खंडहर' फिल्म के लिए भी उन्हें बेस्ट निर्देशक का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला | 2005 में मृणाल सेन को दादा साहेब फाल्के अवॉर्ड और 2008 में ओशियान सिनेफेस्ट फिल्म फेस्टिवल में लाइफ टाइम अचीवमेंट अवॉर्ड से सम्मानित किया गया. उन्हें पद्मभूषण पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है. 2002 में आयी नंदिता सेन अभिनीत बांग्ला फिल्म 'अमार भुवन' के बाद से उनके निर्देशन में कोई फिल्म नहीं आयी लेकिन अपने साक्षात्कारों में वे कई बार कह चुके हैं कि 'बेशक 2002 के बाद से मैंने कोई फिल्म नहीं बनायी, लेकिन मैं खुद को सेवानिवृत्त नहीं मानता.

अर्थ फ़िल्म महेश भट्ट की प्रतिभा का लोहा मनवाने में कामयाब रही। भीम सेन की घरौंदा और बासु चटर्जी की फ़िल्म सारा आकाश भी इसी दशक में सामने आयी। नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी , शबाना आज़मी , अनुपम खेर , स्मिता पाटिल, ने अपने अभिनय का जादू इसी दशक में दिखाया।   अधिकांश फिल्में समाज हित से हटकर पूरी तरह से व्यावासिक हित में रच-बस गयी। अधिकांश फिल्म निर्माताओं का उद्देश्य फिल्म में वास्तविकता/सच्चाई/यथार्थ दिखाने की बजाये उन चीजों को प्रस्तुत करने का होता जो दर्शक को मनोरंजन कराये।

इस दौर के प्रमुख फिल्मकारों में आदित्य चोपड़ा, करण जौहर, राकेश रोशन, रामगोपाल वर्मा,फरहान अख्तर के नाम लिए जा सकते हैं और दूसरी तरफ फ़िल्मकारों का एक ऐसा वर्ग भी सामने आया जो प्रवासी भारतीयों और अंतर्राष्ट्रीय दर्शकों कि पसंद को ध्यान में रखकर ही अपनी अधिकांश फ़िल्में बना रहा था। गुरिन्दर चड्ढा, नागेश कुकुनूर (हैदराबाद ब्लूज़),महेश दत्तानी (मैंगो सौफल), मीरा नायर (मानसून वेडिंग), शेखर कपूर (द गुरू), दीपा मेहता आदि के नाम इसी श्रेणी के फ़िल्मकारों में लिए जा सकते हैं। बजारीकरण,भूमंडलीकरण और वैश्विक व्यापर कि लालसा इन फ़िल्मकारों के ऊपर साफ दिखाई पड़ती है।

उपसंहार :-

अभिब्यक्ति के अन्य माध्यमों की तरह सिनेमा भी अभिब्यक्ति का एक ससक्त माध्यम है | इसकी ससक्तता इस बात से और बढ़ जाती है कि इसको एक साथ असंख्य लोग देख सुनकर प्रभावित और प्रेरित हो सकते है कला फिल्मों का उद्धेश्य शुरू से ही यही रहा है|समाज कि ब्यवस्था मे जरूरी बदलाव किए जाए | उन रूढ़ियो पर रोक लगे जो समाज को गतिहिन बना रही है और उन मान्यताओ पर रोक लगे जो समाज को पतन कि ओर ले जा रहे है इन कला फिल्मों ने हमारे समाज के कठोर यथार्थ को हमारे ही सामने रखा है और हमसे ही प्रश्न किया है कला फिल्मों ने इस मान्यता को सिरे से खारिज किया कि फिल्म मात्र मनोरंजन कि चीज होती है | 60 से 70 के दसक मे आई तमाम फिल्मे उन लोगो के मुह पर तमाचा है जो फिल्म को हसी मज़ाक और हल्के पन से आगे नहीं मानना चाहते कही-कही तो सिनेमा ने साहित्य से भी बढ़ कर मुखर प्रस्तुति कि है या अभीव्यक्त कि है | जिससे वह समाज या ब्यवस्था अपने मे अमूल, चूक परिवर्तन करने के लिए बाध्य हुआ है |

जहा पर कला फिल्मे निर्माण करने वाले निर्देशको कि एक खेत हिन्दी सिनेमा मे आई और आते ही उसने सिनेमा कि दिसा बदल दी फल स्वरूप सिनेमा को गंभीरता से लिया जाने लगा तो वही पर नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा ,फिल्म और टेलीविज़न इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया पुणे एवं देश के अन्य नाट्य संथाओ से अभिनय का सूक्ष्म प्रशिक्षण लेकर अभिनेताओ का एक दल चला सिनेमा मे पाहुचा और अभिनय मात्र लटका –झटका और पारसी नुमा मसकरी शैली मात्र नहीं है वरन सहज , ससक्त एवं भाव पूर्ण अभिब्यक्ति है अभिनय इस बात को पर्दे पर पेश किया और अभिनेता को लोगो द्वारा गंभीरता से लेने को बाध्य किया|

इन प्रमुख अभिनेता , अभिनेत्री मे नसीर , सबाना ,पंकज ,स्मिता ,अमरीश पुरी , राज बब्बर , ओम पुरी जैसे लोग प्रमुख है |

अगर बात की जाए ओम पुरी की तो ओम पुरी ने सिनेमा मे अपने मेहनत लगन से अभिनय की जो मिसाल कायम की है वह दूसरे के द्वारा संभव नहीं थी | सामान्य कद काठी दाग दार चेहरे होने के बावजूद भी ओम पुरी ने इसे अपनी कमजोरी न मानकर अपना आत्मविश्वास बनाए रखा जिसका ही परिणाम है की जब हिन्दी सिनेमा सौ साल के समय मे दिग्गज अभिनेताओ की बात आती है तो उसमे ओम पुरी का नाम शीर्ष के लोगो मे आता है |

ओम पुरी ने अपने कैरियर मे बहुत सारे छोटे –छोटे रोल भी किए और प्रभाव कारी ढंग से किए इससे यह साबित होता है कि वे चरित्र कि व्यंजकता पर ध्यान देते थे ना कि बड़े चरित्रों वाले महिमा मण्डल स्वरूप पर | लेकिन जब उन्हे केन्द्रित चरित्र निभाने का मौका मिला तो उसे भी उन्होने बखुभी संपूर्णता से निभाया |

ओम पुरी ने वैसे तो बहुत सारी काला एवं ब्यावसायिक दोनों तरह कि फिल्मों मे अभिनय किया है और कर भी रहे है | पर हमारा ध्येय यहा पर ओम पुरी के सम्पूर्ण अभिनय यात्रा को दिखाना नहीं है बल्कि उनके अभिनय से सजी कुछ चुनिन्दा फिल्मों पर प्रकाश डाला है जिससे उनके अभिनय के बारीकी को समझा जा सके | उनपे केन्द्रित पात्र वाली भूमिका से सजी फिल्म "आक्रोश" सिनेमा मे जहा पर गोविंद निहलानी को ससक्त निर्देशन के लिए जानी जाती है वही पर ओम पुरी के अभिनय के लिए भी उतनी ही जानी जाती है इस फिल्म मे ओम पुरी ने आक्रोश भरे लहण्या भिखू का चरित्र निभाया है जिसकी पत्नी जमींदारो के बलात्कार का सीकार होती है फलस्वरूप उसकी मृत्यु हो जाती है अपनी विबि को बचाने पाहुचा लहण्या भिखू को सामंत लोग कुचक्र करके फसा देते है कि इसी ने अपनी बीवी का कत्ल किया है | वह जेल मे बंद हो जाता है वकील के लाख पुछने पर भी आक्रोश से भरा हुआ कोई जवाब नहीं देता उसके जेल मे रहने के दौरान ही उसके पिता कि मृत्यु हो जाती है अपने पिता के अंतिम संस्कार मे आया हुआ वह अपनी बहन को देख कर सदमे मे

चला जाता है कि कही मेरी पत्नी कि तरह मेरी बहन भी इन कुकर्मियों के हाथो सीकार ना हो जाए फल स्वरूप अपने बहन को वह वही पर मार देता है |

अन्य दूसरी फिल्म “अर्ध सत्य” मे जुझारू और आंदोलनकारी पोलिस की जो भूमिका ओम पुरी ने निभाई है वह बहुत ही काबिलेतारीफ है एक तो उनकी भड़कीली आवाज उस पर उनके अभिनय का सहज और सटीक तरीका चरित्र को जीवंत बनादेता है |

प्रेम चंद की कहानी सद्गति पे निर्मित सत्यजीत रे की फिल्म “सद्गति” भी ओम पुरी के अभिनय के लिए याद की जाती है |

इसमे इन्होने दुखी नाम के एक दलित मजदूर का चरित्र निभाया है जो ब्राम्हण की बेगारी करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है और ब्राम्हण की संवेदन हीनता इतनी ज्यादा है की वह उसे हाथ से ना छु कर रस्सियों से बांध कर गाँव से बाहर चिल कौओ को खाने के लिए छोण आता है ओम पुरी इस फिल्म के छोटे छोटे जैसे की घास काटने ब्राम्हण पुरोहित से विनती करने और लकड़ी चीरने के दृश्य मे इतने ससक्त ढंग से अभिनय कर गए है की दर्शक की स्मृति से कभी ओझल ही नहीं होते |

फिल्म “आरोहण” जमींदारो पूज्यपतियों ,शोषणकारियों का ऐसा कुचक्र है जो गाँव से शहर तक फैला हुआ है जिसमे हरि मोंढाल (ओम पुरी)जमींदारो से धोखा खाया एक किसान है और उसका पूरा परीवार भी उसी मे तबाह होता है | जिसके परिवार मे कोई जेल जाता है कोई पागल हो जाता है तो कोई मृतु को प्राप्त हो जाता है | इस फिल्म से भी ओम पुरी मे नए आयाम को देखा जा सकता है |

इस तरह से ओम पुरी ने सामाजिक उद्येश्य वाली एवं समाज को जगाने वाली फिल्मे कर के ना केवल वर्तमान समाज की विदरूप ब्यावस्था के प्रति अपना आक्रोश ब्यक्त किया है बल्कि इस समाज मे गरीब की जो दारुल सद्गति होती है उसको भी अभिनय के माध्यम से जिंदा किया है वर्तमान सभ्यता मे जड़ हो चुकी चीजों मे बदलाव के लिए आरोहण भी किया गया है जहा पर एक

तरफ ओम पुरी की अभिनय की कलात्मकता और विविधता उभर कर सामने आई है वही पर उनके समाज के प्रति गहरी आस्था का भि पता हमे चलता है जिसमे वे बेहतरी ,विकाश और गतिशीलता चाहते है |

परिशिष्ट

पुरस्कार एवं प्रतिष्ठा : -

वर्ष सम्मान

1982 - राष्ट्रीय पुरस्कार (आरोहण मे मुख्य अभिनेता)

1983 - फिल्म फेयर पुरस्कार (आक्रोश मे सर्व श्रेष्ठ सह-कलाकार)

1984 - राष्ट्रीय पुरस्कार (अर्ध सत्य मे सर्वश्रेष्ठ अभिनय)

1984 - कार्लोवी वैरी पुरस्कार (अर्ध सत्य मे सर्वश्रेष्ठ अभिनेता)

1986 - सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार

1989 - पद्मश्री

1997 - क्रिस्टल स्टार (माई सन दि फैनेटिक मे सर्वश्रेष्ठ अभिनेता)

1999 - बाफ्टा नामांकन (ईस्ट इज ईस्ट सर्वश्रेष्ठ अभिनेता)

2000 - ग्रेंड प्रिक्स डि अमेरिकंस (मोंट्रियल फिल्म महोत्सव)

2004 - महाराष्ट्र रत्न

2005 - ओबीई (एचआरएच क्वीन एलिज़ाबेथ द्वितीय द्वारा ऑफिसर ऑफ दि ऑर्डर ऑफ दि

ब्रिटिश एंपायर)

2008 - अध्यक्ष ,राष्ट्रिय फिल्म विकास निगम

वर्ष		फ़िल्म
2008	-	मेरे बाप पहले आप
2008	-	देहली 6
2007	-	इस प्यार को क्या नाम दूँ
2007	-	शूट ऑन साइट
2007	-	ढोल
2007	-	चार्ली विल्सन्स वार
2007	-	देल्ही हाइट्स

2007	-	फूल एन फाइनल
2006	-	मालामाल वीकली
2006	-	बाबुल
2006	-	चुप चुप के
2006	-	डॉन
2006	-	रंग दे बसंती
2005	-	द हैंगमैन
2005	-	मुम्बई एक्सप्रेस
2005	-	दीवाने हुए पागल
2005	-	क्योंकि
2005	-	अमर जोशी शहीद हो गया
2005	-	किस्ना
2005	-	द राइज़िंग
2004	-	द किंग ऑफ बॉलीवुड
2004	-	ए के ४७
2004	-	देव
2004	-	क्यूँ ! हो गया ना
2004	-	युवा
2004	-	लक्ष्य
2004	-	स्टॉप!
2004	-	आन
2003	-	कगार
2003	-	काश आप हमारे होते
2003	-	आपको पहले भी कहीं देखा है
2003	-	तेरे प्यार की कसम
2003	-	मकबूल
2003	-	एक और एक ग्यारह
2003	-	द सी केप्टेन्स टेल
2003	-	मिस इण्डिया: द मिस्टरी
2003	-	चुपके से
2003	-	कोड ४६

2003	-	धूप
2003	-	सैकन्ड जनरेशन
2002	-	व्हाइट टीथ
2002	-	अंश
2002	-	प्यार दीवाना होता है
2002	-	चोर मचाये शोर
2002	-	शरारत
2002	-	माँ तुझे सलाम
2002	-	घाव
2002	-	आवारा पागल दीवाना
2002	-	मर्डर
2002	-	क्रांति
2002	-	पिता
2001	-	द मिस्टिक मसियूर
2001	-	गुरु महागुरु
2001	-	हैपी नाउ
2001	-	फ़र्ज़
2001	-	दीवानापन
2001	-	द ज़ूकीपर
2001	-	बॉलीबुड कौलिंग
2001	-	द पैरोल ऑफीसर
2001	-	इण्डियन
2001	-	ग़दर
2000	-	दुल्हन हम ले जायेंगे
2000	-	घात
2000	-	कुरुक्षेत्र
2000	-	पुकार
2000	-	कुंवारा
2000	-	हे राम
2000	-	बस यारी रखो

2000	-	ज़िन्दगी ज़िन्दाबाद
2000	-	हेरा फेरी
1999	-	ईस्ट इज़ ईस्ट
1999	-	खूबसूरत
1998	-	चाइना गेट
1998	-	चाची ४२०
1998	-	सच अ लौंग जर्नी
1998	-	विनाशक
1998	-	प्यार तो होना ही था
1997	-	माई सन इज़ फेनैटिक
1997	-	आस्था
1997	-	चुप
1997	-	ज़मीर
1997	-	ज़ोर
1997	-	निर्णायक
1997	-	मृत्युदंड
1997	-	गुप्त
1997	-	भाई
1996	-	माचिस
1996	-	प्रेम ग्रंथ
1996	-	घातक
1996	-	द घोस्ट एंड द डार्कनैस
1996	-	राम और श्याम
1996	-	कृष्णा
1995	-	ब्रदर्स इन ट्रबल
1995	-	कर्तव्य
1995	-	टार्गेट
1995	-	आतंक ही आतंक
1994	-	त्रियाचरित्र
1994	-	पतंग
1994	-	वो छोकरी

1994 - द्रोह काल
1994 - वॉल्फ
1994 - तर्पण
1993 - इन कस्टडी - देवेन अंग्रेजीफ़िल्म
1993 - द बर्निंग सीज़न
1993 - अंकुरम
1993 - माया
1992 - करन्ट
1992 - सिटी ऑफ जॉय - अंग्रेजी फ़िल्म
1992 - अंगार
1992 - रात
1992 - ज़ख्मी सिपाही
1992 - धारावि
1992 - कर्म योद्धा
1991 - पत्थर
1991 - इरादा
1991 - मीना बाज़ार
1991 - सैम एंड मी
1991 - नरसिम्हा
1991 - अंतर्नाद
1990 - घायल
1990 - दिशा
1989 - मिस्टर योगी - दूरदर्शन धारावाहिक फ़िल्म
1989 - इलाका
1988 - हम फ़रिश्ते नहीं
1988 - एक ही मकसद
1988 - भारत एक खोज
1987 - सुस्मान
1987 - गोरा
1987 - मरते दम तक

1986 तमस
1986 - यात्रा - दूरदर्शन धारावाहिक फ़िल्म
1986 - लौंग दा लश्कार - पंजाबी फ़िल्म
1986 - जेनेसिस
1986 - न्यू देहली टाइम्स
1985 - अघात
1985 - नसूर
1985 - साँझी
1985 - ज़माना
1985 - मिर्च मसाला
1984 - गिद्ध
1984 - पार
1984 - रावण
1984 - राम की गंगा
1984 - तरंग
1984 - माटी माँगे खून
1984 - होली
1984 - पार्टी
1984 - द ज्वैल इन द क्राउन - दूरदर्शन धारावाहिक फ़िल्म
1983 - अर्द्ध सत्य
1983 - जाने भी दो यारों
1983 - डिस्को डांसर
1983 - चोख
1983 - मंडी
1983 - बेकरार
1982 - गाँधी
1982 - विजेता
1982 आरोहण
1981 - सद्गति

1981	-	कलयुग
1980	-	अलबर्ट पिन्टो को गुस्सा क्यों आता है
1980	-	भवनी भवाई
1980	-	चन परदेसी
1980	-	स्पर्श
1980	-	आक्रोश
1979	-	शायद
1979	-	साँच को आँच नहीं
1978	-	अरविन्द देसाई की अजीब दास्तान
177	-	गोधूलि
19	-	भूमिका
1976	-	घासीराम कोतवाल
1975	-	चोर चोर छुप जाए